प्रकार वह द्योतनस्वभाव सम्भजनीय भगवान् अकेला ही कारणभूत पृथिवी आदिका* नियमन करता है॥ ४॥

सर्वा दिश इति। सर्वा दिशः प्राच्याद्या ऊर्ध्वमुपरिष्टादधश्चाधस्तात्तिर्यक्पार्श्वदिशश्च प्रकाशयन् स्वात्मचैतन्यज्योतिषा प्रकाशते भ्राजते दीप्यते ज्योतिषा यदु अनड्वान्यद्वदित्यर्थः। यथानड्वानादित्यो जगच्चक्रावभासने युक्त एवं स देवो द्योतनस्वभावो भगवानैश्वर्यादिसमन्वितो वरेण्यो वरणीयः संभजनीयो योनिकारणं कृत्स्नस्य जगतः स्वभावान् स्वात्मभूतान्पृथ्व्यादीन्भावानथवा कारणस्वभावान्कारणभूतान्पृथिव्यादीनधितिष्ठति नियमयति। एकोऽद्वितीयः परमात्मा॥ ४॥

'सर्वा दिशः' इत्यादि। यह पूर्वादि समस्त दिशाओंको अर्थात् ऊपर-नीचे और इधर-उधरकी दिशाओंको प्रकाशित करता हुआ अपने स्वरूपभूत चित्प्रकाशसे भ्राजित यानी दीप्त होता है—जैसे कि अनड्वान्। और जिस प्रकार कि अनड्वान् यानी सूर्य जगच्चक्रको प्रकाशित करनेमें लगा हुआ है उसी प्रकार वह देव—द्योतनस्वभाव, भगवान्—ऐश्वर्यादिसम्पन्न और वरेण्य—वरणीय—सम्भजनीय योनि यानी कारण एक अद्वितीय परमात्मा सम्पूर्ण जगत्‌के स्वभाव यानी स्वात्मभूत पृथिवी आदि भावोंको [अधिष्ठित करता है]। अथवा ['योनिस्वभावान्' ऐसा समस्त पद माना जाय तो] कारण-स्वभाव यानी कारणभूत पृथिवी आदिको अधिष्ठित—नियमित करता है॥ ४॥

---

* यह अर्थ मूलपाठ 'योनिस्वभावान्' मानकर किया गया है, जहाँ मूलमें 'योनिः स्वभावान्' ऐसा पाठ है वहाँ 'योनिः' शब्द भगवान्‌का विशेषण होगा और 'स्वभावान्' का अर्थ 'स्वात्मभूतान् पृथिव्यादीन् भावान्' (अपने स्वरूपभूत पृथिवी आदि भावोंको) होगा।

यच्च स्वभावं पचति विश्वयोनिः
पाच्यांश्च सर्वान्परिणामयेद्यः।
सर्वमेतद्विश्वमधितिष्ठत्येको
गुणांश्च सर्वान्विनियोजयेद्यः॥ ५॥

जगत्का कारणभूत जो परमात्मा [प्रत्येक वस्तुके] स्वभावको निष्पन्न करता है, जो पाच्यों (परिणामयोग्य पदार्थों) को परिणत करता है, जो अकेला ही इस सम्पूर्ण विश्वका नियमन करता है और जो [सत्त्वादि] समस्त गुणोंको उनके कार्योंमें नियुक्त करता है [वह परब्रह्म है]॥ ५॥

यच्च स्वभावमिति। यच्च यश्चेति लिङ्गव्यत्ययः। स्वभावं यदग्नेरौष्ण्यं पचति निष्पादयति विश्वस्य जगतो योनिः। पाच्यांश्च पाकयोग्यान्पृथिव्यादीन् परिणामयेद्यः। सर्वमेतद्विश्वमधितिष्ठति नियमयत्येकः। गुणांश्च सत्त्वरजस्तमोरूपान्विनियोजयेद्यः। एवंलक्षणः॥ ५॥

'यच्च स्वभावम्' इत्यादि। [यहाँ वैदिक-प्रक्रियानुसार] 'यश्च' इस पुँल्लिङ्गके स्थानमें 'यच्च' इस प्रकार लिङ्गव्यत्यय हुआ है। जो स्वभावको यानी अग्निके उष्णत्वको पचाता—निष्पन्न करता है, विश्व—जगत्का कारण है और पाच्य यानी पाक (परिणाम) योग्य पृथिवी आदिका परिणाम करता है, जो अकेला इस सम्पूर्ण विश्वको अधिष्ठित—नियमित करता है तथा जो सत्त्व, रज एवं तमोरूप गुणोंको नियुक्त करता है—ऐसे लक्षणोंवाला परमात्मा है॥ ५॥

किञ्च—

तथा—

तद्वेदगुह्योपनिषत्सु गूढं
तद्ब्रह्मा वेदते ब्रह्मयोनिम्।

ये पूर्वदेवा ऋषयश्च तद्विदु-
स्ते तन्मया अमृता वै बभूवुः॥ ६॥

वह वेदोंके गुह्यभाग उपनिषदोंमें निहित है, उस वेदवेद्य परमात्माको ब्रह्मा जानता है, जो पुरातन देव और ऋषिगण उसे जानते थे वे तद्रूप होकर अमर ही हो गये थे॥ ६॥

तदिति। तत्प्रकृतमात्मस्वरूपं वेदानां गुह्योपनिषदो वेदगुह्योपनिषदस्तासु वेदगुह्योपनिषत्सु गूढं संवृतम्। ब्रह्मा हिरण्यगर्भो वेदते जानाति ब्रह्मयोनिं वेदप्रमाणकमित्यर्थः। अथवा ब्रह्मणो हिरण्यगर्भस्य योनिं वेदस्य वा ये पूर्वदेवा रुद्रादय ऋषयश्च वामदेवादयस्तद्विदुस्ते तन्मयास्तदात्मभूताः सन्तोऽमृता अमरणधर्माणो बभूवुः। तथेदानीन्तनोऽपि तमेव विदित्वामृतो भवतीति वाक्यशेषः॥ ६॥

'तद्वेद' इत्यादि। उस प्रकृत आत्माका स्वरूप वेदोंके गुह्यभाग जो उपनिषद् हैं उन वेदगुह्योपनिषदोंमें गूढ—छिपा हुआ है। उस ब्रह्मयोनि यानी वेदप्रमाणक आत्माको ब्रह्मा जानता है, अथवा ब्रह्म यानी हिरण्यगर्भके कारण अथवा वेदके कारणभूत उस आत्माको जो रुद्रादि पूर्वदेव और वामदेवादि ऋषिगण जानते थे वे तन्मय—तत्स्वरूप होकर अमृत—अमरणधर्मा हो गये। इसी प्रकार आधुनिक पुरुष भी उसे जानकर अमर हो जाता है—यह वाक्यशेष है॥ ६॥

कर्तृत्वादि धर्मोंसे युक्त जीवात्माके स्वरूपका वर्णन

एतावता तत्पदार्थ उपवर्णितः। अथेदानीं त्वंपदार्थमुपवर्णयितुमुत्तरे मन्त्राः प्रस्तूयन्ते—

इतने ग्रन्थसे तत्पदार्थका वर्णन किया गया। अब यहाँसे त्वंपदार्थका निरूपण करनेके लिये आगेके मन्त्र प्रस्तुत किये जाते हैं—

गुणान्वयो यः फलकर्मकर्ता
कृतस्य तस्यैव स चोपभोक्ता।
स विश्वरूपस्त्रिगुणस्त्रिवर्त्मा
प्राणाधिपः संचरति स्वकर्मभिः॥ ७॥

जो गुणोंसे सम्बद्ध, फलप्रद कर्मका कर्ता और उस किये हुए कर्मका उपभोग करनेवाला है, वह विभिन्न रूपोंवाला, त्रिगुणमय, तीन मार्गोंसे गमन करनेवाला प्राणोंका अधिष्ठाता अपने कर्मोंके अनुसार गमन करता है॥ ७॥

गुणान्वय इति। गुणैः कर्मज्ञानकृतवासनामयैरन्वयो यस्य सोऽयं गुणान्वयः। फलार्थस्य कर्मणः कर्ता कृतस्य कर्मफलस्य स एवोपभोक्ता। स विश्वरूपो नानारूपः कार्यकारणोपचितत्वात्। त्रयः सत्त्वादयो गुणा अस्येति त्रिगुणः। त्रयो देवयानादयो मार्गभेदा अस्येति त्रिवर्त्मा धर्माधर्मज्ञानमार्गभेदा अस्येति वा। प्राणस्य पञ्चवृत्तेरधिपः संचरति। कैः? स्वकर्मभिः॥ ७॥

'गुणान्वयः' इत्यादि। जिसका कर्म एवं ज्ञानजनित वासनामय गुणोंके साथ सम्बन्ध है वह यह जीव गुणान्वय है। वह फलके लिये कर्म करनेवाला है और वही किये हुए कर्मका फल भोगनेवाला भी है। कार्यकारणभावसे [नाना देह धारण करके] वृद्धिको प्राप्त होनेसे वह विश्वरूप—नाना रूप है। सत्त्वादि तीनों गुण इसीके हैं इसलिये यह त्रिगुण है। इसके देवयानादि तीन मार्गभेद हैं अथवा धर्म, अधर्म और ज्ञानरूप इसके तीन मार्ग हैं, इसलिये यह त्रिवर्त्मा है। यह पाँच वृत्तियोंवाले प्राणका अधिपति सञ्चार करता है। किनके द्वारा?—अपने कर्मोंके द्वारा॥ ७॥

अङ्गुष्ठमात्रो रवितुल्यरूपः
सङ्कल्पाहङ्कारसमन्वितो यः।
बुद्धेर्गुणेनात्मगुणेन चैव
आराग्रमात्रो ह्यपरोऽपि दृष्टः॥ ८॥

जो अँगूठेके बराबर परिमाणवाला, सूर्यके समान ज्योतिःस्वरूप, संकल्प और अहंकारसे युक्त तथा बुद्धि और शरीरके गुणोंसे भी युक्त है वह अन्य (जीव) भी आरकी नोंकके बराबर आकारवाला देखा गया है॥ ८॥

अङ्गुष्ठमात्र इति। अङ्गुष्ठमात्रोऽङ्गुष्ठपरिमितहृदयसुषिरापेक्षया। रवितुल्यरूपो ज्योतिःस्वरूप इत्यर्थः। सङ्कल्पाहङ्कारादिना समन्वितो बुद्धेर्गुणेनात्मगुणेन च जरादिना। उक्तं च "जरामृत्यू शरीरस्य" इति। आराग्रमात्रः प्रतोदाग्रप्रोतलोहकण्टकाग्रमात्रोऽपरोऽपि ज्ञानात्मनात्मा दृष्टोऽवगतः। अपिशब्दः सम्भावनायाम्। अपरोऽप्यौपाधिको जलसूर्य इव जीवात्मा सम्भावित इत्यर्थः॥ ८॥

'अङ्गुष्ठमात्रः' इत्यादि। अङ्गुष्ठमात्र अर्थात् हृदयगुहाकी अपेक्षासे अँगूठेके बराबर परिमाणवाला, रवितुल्यरूप अर्थात् ज्योतिःस्वरूप, बुद्धिके गुण सङ्कल्प और अहंकारादिसे युक्त तथा शरीरके गुण जरादिसे भी सम्पन्न; "जरा और मृत्यु शरीरके धर्म हैं" ऐसा कहा भी है। आराग्रमात्र—कोड़ेके अग्रभागमें लगा हुआ जो लोहेका काँटा होता है उसकी नोकके बराबर अन्य भी यानी आत्मा भी ज्ञानस्वरूपसे देखा—जाना गया है। यहाँ 'अपि' शब्द सम्भावनामें है; तात्पर्य यह है कि जलमें प्रतिविम्बित सूर्यके समान उपाधिसे अन्य जीवात्मा भी होना सम्भव है॥ ८॥

पुनरपि दृष्टान्तान्तरेण दर्शयति—

एक दूसरे दृष्टान्तसे श्रुति फिर भी दिखाती है—

वालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च।
भागो जीवः स विज्ञेयः स चानन्त्याय कल्पते॥ ९॥

सौ भागोंमें विभक्त किया हुआ जो केशके अग्रभागका सौवाँ भाग है उस जीवको उसके बराबर जानना चाहिये; किन्तु वही अनन्तरूप हो जाता है॥ ९॥

वालाग्रेति। वालाग्रस्य शतकृत्वो भेदमापादितस्य यो भागस्तस्यापि शतधा कल्पितस्य भागो जीवः स विज्ञेयः। लिङ्गस्यातिसूक्ष्मत्वात् तत्परिमाणे नायं व्यपदिश्यते। स च जीवस्वरूपेण, आनन्त्याय कल्पते स्वतः।

'वालाग्र' इत्यादि। सौ भागोंमें विभक्त किये केशके अग्रभागका जो एक भाग है उसके भी सौ भाग किये जानेपर जो भाग होता है उसके समान जीवको समझना चाहिये। लिङ्गदेह अत्यन्त सूक्ष्म है, इसलिये उसके परिमाणके अनुसार ही इसका परिमाण बतलाया जाता है। जीवस्वरूपसे वह ऐसा है, किन्तु स्वतः (अपने परमार्थरूपसे) वही अनन्त हो जाता है॥ ९॥

किञ्च—

तथा—

नैव स्त्री न पुमानेष न चैवायं नपुंसकः।
यद्यच्छरीरमादत्ते तेन तेन स रक्ष्यते॥ १०॥

यह [विज्ञानात्मा] न स्त्री है, न पुरुष है और न नपुंसक ही है। यह जो-जो शरीर धारण करता है उसी-उसीसे सुरक्षित रहता है॥ १०॥

नैव स्त्रीति। स्वतोऽद्वितीयापरोक्षब्रह्मात्मस्वभावत्वान्नैव स्त्री न पुमानेष नैव चायं नपुंसकः।

'नैव स्त्री' इत्यादि। स्वयं साक्षात् अद्वितीय ब्रह्मस्वरूप होनेके कारण यह न स्त्री है, न पुरुष है और न नपुंसक ही है।

यद्यत्स्त्रीशरीरं पुरुषशरीरं नपुंसकशरीरं वादत्ते तेन तेन स च विज्ञानात्मा रक्ष्यते संरक्ष्यते तत्तद्धर्मानात्मन्यध्यस्याभिमन्यते स्थूलोऽहं कृशोऽहं पुमानहं स्त्र्यहं नपुंसकोऽहमिति॥ १०॥

यह जिस-जिस स्त्रीशरीर, पुरुषशरीर अथवा नपुंसकशरीरको धारण करता है उसी-उसीसे यह विज्ञानात्मा रक्षित—सुरक्षित रहता है, अर्थात् उसी-उसी शरीरके धर्मोंको अपनेमें आरोपित कर ऐसा मानने लगता है कि 'मैं स्थूल हूँ, मैं कृश हूँ, मैं पुरुष हूँ, मैं स्त्री हूँ, मैं नपुंसक हूँ इत्यादि॥ १०॥



जीवको कर्मोंके अनुसार विविध देहकी प्राप्तिका निर्देश

केन तर्ह्यसौ शरीराण्यादत्ते? इत्याह—

तो फिर यह किस कारणसे शरीर धारण करता है? सो बतलाते हैं—

सङ्कल्पनस्पर्शनदृष्टिमोहै-
र्ग्रासाम्बुवृष्ट्या चात्मविवृद्धिजन्म।
कर्मानुगान्यनुक्रमेण देही
स्थानेषु रूपाण्यभिसंप्रपद्यते॥ ११॥

जिस प्रकार अन्न और जलके सेवनसे शरीरकी वृद्धि होती है वैसे ही संकल्प, स्पर्श, दर्शन और मोहसे [कर्म होते हैं। फिर] यह देही क्रमशः [विभिन्न] योनियोंमें जाकर उन कर्मोंके अनुसार रूप धारण करता है॥ ११॥

सङ्कल्पनेति। प्रथमं सङ्कल्पनम्। ततः स्पर्शनं त्वगिन्द्रियव्यापारः। ततो दृष्टिविधानम्। ततो

'सङ्कल्पनम्' इत्यादि। पहले सङ्कल्प होता है, फिर स्पर्श यानी त्वगिन्द्रियका व्यापार होता है, तत्पश्चात् दृष्टि जाती है, उससे पीछे

मोहः। तैः सङ्कल्पनस्पर्शनदृष्टिमोहैः शुभाशुभानि कर्माणि निष्पद्यन्ते। ततः कर्मानुगानि कर्मानुसारीणि स्त्रीपुंनपुंसकलक्षणान्यनुक्रमेण परिपाकापेक्षया देही मर्त्यः स्थानेषु देवतिर्यङ्मनुष्यादिष्वभिसंप्रपद्यते। तत्र दृष्टान्तमाह—ग्रासाम्बुनोरन्नपानयोरनियतयोर्वृष्टिरासेचनं निदानमात्मनः शरीरस्य वृद्धिर्जायते यथा तद्वदित्यर्थः॥ ११॥

मोह होता है। उन संकल्प, स्पर्श, दर्शन और मोहसे शुभाशुभ कर्म सम्पन्न होते हैं। फिर कर्मानुगत यानी कर्मोंके अनुसार अनुक्रमसे—कर्मविपाककी अपेक्षासे यह देही—जीव स्त्री, पुरुष एवं नपुंसकादि रूपोंको देवता, तिर्यक् एवं मनुष्यादि स्थानों (योनियों) में प्राप्त करता है। उसमें दृष्टान्त देते हैं—जिस प्रकार ग्रास और अम्बु यानी अनियत अन्न और जलकी वृष्टि—उनका सम्यक् सेचन आत्माका निदान है अर्थात् उससे शरीरकी वृद्धि होती है उसी प्रकार [जीवको कर्मोंके द्वारा तदनुकूल शरीरोंकी प्राप्ति होती है]—ऐसा इसका अभिप्राय है॥ ११॥

स्थूलानि सूक्ष्माणि बहूनि चैव
रूपाणि देही स्वगुणैर्वृणोति।
क्रियागुणैरात्मगुणैश्च तेषां
संयोगहेतुरपरोऽपि दृष्टः॥ १२॥

जीव अपने गुणों (पाप-पुण्यों) के द्वारा स्थूल-सूक्ष्म बहुत-से देह धारण करता है। फिर उन (शरीरों) के कर्मफल और मानसिक संस्कारोंके द्वारा उनके संयोग (देहान्तरप्राप्ति) का दूसरा हेतु भी देखा गया है॥ १२॥

स्थूलानीति। तानि च स्थूलान्यश्मादीनि सूक्ष्माणि तैजसधातुप्रभृतीनि बहूनि देवादिशरीराणि देही विज्ञानात्मा स्वगुणैर्विहितप्रतिषिद्धविषयानुभवसंस्कारैर्वृणोत्यावृणोति। ततस्तत्त्क्रियागुणैरात्मगुणैश्च स देह्यपरोऽपि देहान्तरसंयुक्तो भवतीत्यर्थः॥ १२॥

'स्थूलानि' इत्यादि। देही—विज्ञानात्मा अपने गुण यानी विहित और प्रतिषिद्ध विषयोंके अनुभवसे प्राप्त हुए संस्कारोंके द्वारा बहुत-से यानी पाषाणादि स्थूल और तैजस धातु आदि सूक्ष्म देवादि-शरीर धारण करता है। फिर वह देही उन-उन शरीरोंके कर्मफल और मानसिक संस्कारोंके द्वारा अन्य रूप हो जाता है अर्थात् देहान्तरसे युक्त हो जाता है॥ १२॥



परमात्मतत्त्वके जाननेसे जीवकी मुक्तिका कथन

स एवमविद्याकामकर्मफलरागादिगुरुभाराक्रान्तोऽलाबुरिव सान्द्रजलनिमग्नो निश्चयेन देहाहंभावमापन्नः प्रेततिर्यङ्मनुष्यादियोनिष्वाजीवं जीवभावमापन्नः कथञ्चित्पुण्यवशादीश्वरार्थकर्मानुष्ठानेनापगतरागादिमलोऽनित्यत्वादिदर्शनेनोत्पन्नेहामुत्रार्थफलभोगविरागशमदमादिसाधनसम्पन्नस्तमात्मानं ज्ञात्वा मुच्यत इत्याह—

अब श्रुति यह बतलाती है कि इस प्रकार गम्भीर जलमें डूबे हुए तूँबेके समान अविद्या, काम, कर्मफल और रागादिके भारी भारसे आक्रान्त होनेके कारण अपने निश्चयसे देहात्मभावसे ही युक्त हुआ जीव प्रेत, तिर्यक् एवं मनुष्यादि योनियोंमें जीवनपर्यन्त जीवभावमें ही स्थित हुआ किसी प्रकार पुण्यवश ईश्वरार्थ कर्म करनेसे रागादिमलसे शुद्ध हो जानेपर जब अनित्यत्वादि दोष-दृष्टि करनेसे ऐहिक और आमुष्मिक फलभोगसे विरक्त और शम-दमादि साधनसम्पन्न होता है तब उस आत्माको जानकर वह मुक्त हो जाता है—

अनाद्यनन्तं कलिलस्य मध्ये
विश्वस्य स्त्रष्टारमनेकरूपम्।
विश्वस्यैकं परिवेष्टितारं
ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः॥ १३॥

इस गहन संसारके भीतर उस अनादि, अनन्त, विश्वके रचयिता, अनेकरूप, विश्वको एकमात्र व्याप्त करनेवाले देवको जानकर जीव समस्त पाशोंसे मुक्त हो जाता है॥ १३॥

अनाद्यनन्तमिति। अनाद्यनन्तमाद्यन्तरहितं कलिलस्य मध्ये गहनगभीरसंसारस्य मध्ये विश्वस्य स्त्रष्टारमुत्पादयितारमनेकरूपं विश्वस्यैकं परिवेष्टितारं स्वात्मना संव्याप्यावस्थितं ज्ञात्वा देवं ज्योतीरूपं परमात्मानं मुच्यते सर्वपाशैरविद्याकामकर्मभिः॥ १३॥

'अनाद्यनन्तम्' इत्यादि। कलिलके मध्यमें यानी अत्यन्त गम्भीर संसारके मध्यमें अनाद्यनन्त—आदि-अन्तसे रहित, विश्वकी सृष्टि—उत्पत्ति करनेवाले, अनेकरूप, विश्वके एकमात्र परिवेष्टा अर्थात् अपने स्वरूपसे विश्वको व्याप्त करके स्थित हुए, देव—ज्योतिःस्वरूप परमात्माको जानकर जीव समस्त पाशोंसे यानी अविद्या, काम एवं कर्मादिसे मुक्त हो जाता है॥ १३॥

केन पुनरसौ गृह्यते? इत्याह—

किन्तु यह किसके द्वारा ग्रहण किया जाता है, सो बतलाते हैं—

भावग्राह्यमनीडाख्यं भावाभावकरं शिवम्।
कलासर्गकरं देवं ये विदुस्ते जहुस्तनुम्॥ १४॥

भावग्राह्य, अशरीरसंज्ञक, सृष्टि और प्रलय करनेवाले, शिवस्वरूप एवं कलाओंकी रचना करनेवाले इस देवको जो जान लेते हैं वे शरीर (देहबन्धन) को त्याग देते हैं॥ १४॥

भावग्राह्यमिति। भावेन विशुद्धान्तःकरणेन गृह्यत इति भावग्राह्यम्। अनीडाख्यं नीडं शरीरमशरीराख्यम्। भावाभावकरं शिवं शुद्धमविद्यातत्कार्यविनिर्मुक्तमित्यर्थः। कलानां षोडशानां प्राणादिनामान्तानाम् "स प्राणमसृजत" (प्र० उ० ६। ४) इत्यादिनाथर्वणोक्तानां सर्गकरं देवं ये विदुरहमस्मीति ते जहुः परित्यजेयुस्तनुं शरीरम्॥ १४॥

'भावग्राह्यम्' इत्यादि। भाव—विशुद्ध अन्तःकरणसे ग्रहण किया जाता है इसलिये जो भावग्राह्य है, अनीडाख्य—नीड शरीरको कहते हैं अतः अशरीर नामवाले भाव और अभाव (सृष्टि और प्रलय) करनेवाले, शिव—शुद्ध अर्थात् अविद्या और उसके कार्यसे रहित, कला सर्गकर—"उसने प्राणकी रचना की" इत्यादि वाक्यसे अथर्वण (प्रश्न) श्रुतिमें कही हुई प्राणसे लेकर नामपर्यन्त सोलह कलाओंके रचयिता उस देवको जो 'यह मैं हूँ' इस प्रकार जानते हैं वे तनु—शरीरको त्याग देते हैं*॥ १४॥

इति श्रीमद्गोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यपरमहंसपरिव्राजकाचार्य-श्रीमच्छङ्करभगवत्प्रणीते श्वेताश्वतरोपनिषद्भाष्ये पञ्चमोऽध्यायः॥ ५॥

* अर्थात् फिर उनका शरीरान्तरसे सम्बन्ध नहीं होता, वे मुक्त हो जाते हैं।

षष्ठोऽध्यायः

परमेश्वरकी महिमासे सृष्टिचक्रका सञ्चालन

नन्वन्ये कालादयः कारणम् इति मन्यन्ते। तत्कथं पुनरीश्वरस्य कलासर्गकरत्वमित्याशङ्क्याह—

किन्तु अन्य मतावलम्बी तो कालादिको कारण मानते हैं, फिर ईश्वर किस प्रकार कलाओंकी सृष्टि करनेवाला हो सकता है?—ऐसी आशङ्का करके श्रुति कहती है—

स्वभावमेके कवयो वदन्ति
कालं तथान्ये परिमुह्यमानाः।
देवस्यैष महिमा तु लोके
येनेदं भ्राम्यते ब्रह्मचक्रम्॥ १॥

कोई बुद्धिमान् तो स्वभावको कारण बतलाते हैं और दूसरे कालको। किन्तु ये मोहग्रस्त हैं [अतः ठीक नहीं जानते]। यह भगवान्की महिमा ही है, जिससे लोकमें यह ब्रह्मचक्र[1] घूम रहा है॥ १॥

स्वभावमिति। स्वभावमेके कवयो मेधाविनो वदन्ति। कालं तथान्ये। कालस्वभावयोर्ग्रहणं प्रथमाध्याये निर्दिष्टाना-

'स्वभावम्' इत्यादि। कोई कवि—मेधावी स्वभावको [कारण] बतलाते हैं तथा दूसरे कालको। यहाँ काल और स्वभावका ग्रहण प्रथम अध्यायमें बतलाये हुए

१. ब्रह्मचक्र अर्थात् संसाररूपमें विवर्तित ब्रह्मरूप चक्र, जिसका वर्णन प्रथम अध्यायके चतुर्थ मन्त्रमें किया है।

मन्येषामप्युपलक्षणार्थम्। परिमुह्यमाना अविवेकिनो विषयात्मानो न सम्यग्जानन्ति। तुशब्दोऽवधारणे। देवस्यैष महिमा माहात्म्यम्। येनेदं भ्राम्यते परिवर्तते ब्रह्मचक्रम्॥ १॥

अन्य कारणोंको भी उपलक्षित करनेके लिये किया गया है। ये स्वभाव और कालवादी परिमुह्यमान—अविवेकी यानी विषयी होनेके कारण यथार्थ नहीं जानते। 'तु' शब्द निश्चयार्थक है। यह तो देव (परमेश्वर) की महिमा है, जिससे यह ब्रह्मचक्र भ्रमित—परिवर्तित होता है [अर्थात् सब ओर घूम रहा है]॥ १॥

चिन्तनीय परमेश्वरका स्वरूप तथा उसकी महिमा

महिमानं प्रपञ्चयति—

उस महिमाका निरूपण करते हैं—

येनावृतं नित्यमिदं हि सर्वं
ज्ञः कालकारो गुणी सर्वविद्यः।
तेनेशितं कर्म विवर्तते ह
पृथ्व्यप्तेजोऽनिलखानि चिन्त्यम्॥ २॥

जिसके द्वारा सर्वदा यह सब व्याप्त है तथा जो ज्ञानस्वरूप, कालका भी कर्ता, निष्पापत्वादि गुणवान् और सर्वज्ञ है उसीसे प्रेरित होकर यह पृथिवी, जल, अग्नि, वायु एवं आकाशरूप कर्म [जगद्रूपसे] विवर्तित होता है; [अतः उसका चिन्तन करना चाहिये]॥ २॥

येनेति। येनेश्वरेणावृतं व्याप्तमिदं जगन्नित्यं नियमेन। ज्ञः कालकारः कालस्यापि कर्ता।

'येन' इत्यादि। जिस ईश्वरके द्वारा यह जगत् नित्य—नियमसे व्याप्त है, जो ज्ञानस्वरूप, कालकार—कालका भी कर्ता,

गुण्यपहतपाप्मादिमान्। सर्वं वेत्तीति सर्वविद्यः। तेनेश्वरेणेशितं प्रेरितं कर्म क्रियत इति कर्म स्रजीव फणी। हशब्दः प्रसिद्ध-द्योतकः। प्रसिद्धं यदेतदीश्वर-प्रेरितं कर्म जगदात्मना विवर्तत इति यत्पुनस्तत्कर्म पृथ्व्यप्तेजो-ऽनिलखानि पृथिव्यादिभूत-पञ्चकम्॥ २॥

गुणी—अपहतपाप्मत्वादि गुणवान् और सबको जाननेके कारण सर्वज्ञ है। उस ईश्वरसे ईशित—प्रेरित कर्म। जो किया जाता है उसे कर्म कहते हैं, 'ह' शब्द प्रसिद्धिका द्योतक है। अर्थात् यह जो ईश्वरप्रेरित प्रसिद्ध कर्म है वह मालामें सर्पके समान जगद्रूपसे विवर्तित होता है। और वह जो कर्म है सो पृथिवी, जल, तेज, वायु और आकाशरूप है अर्थात् पृथिवी आदि पञ्चभूत है॥ २॥

यत्प्रथमाध्याये चिन्त्यमित्युक्तम्, एतदेव प्रपञ्चयति—

प्रथम अध्यायमें जिसे चिन्तनीय बतलाया है उसीका निरूपण करते हैं—

तत्कर्म कृत्वा विनिवर्त्य भूय-
स्तत्त्वस्य तत्त्वेन समेत्य योगम्।
एकेन द्वाभ्यां त्रिभिरष्टभिर्वा
कालेन चैवात्मगुणैश्च सूक्ष्मैः॥ ३॥

उस कर्मको करके उसका निरीक्षण कर फिर जो उस तत्त्वके साथ यानी एक, दो, तीन या आठ तत्त्वोंके[१] साथ अथवा काल और अन्तः-करणके सूक्ष्म गुणोंके साथ अपने [सत्तारूप] गुणका योग कराकर [स्वयं स्थित रहता है उसका चिन्तन करना चाहिये]॥ ३॥

१. श्रीशंकरानन्दजीके मतानुसार एक तत्त्व अविद्या है, दो धर्म और अधर्म हैं, तीन तत्त्वादि त्रिगुण हैं और मन, बुद्धि तथा अहंकारके सहित पाँच भूत आठ तत्त्व हैं। भाष्यमें भी आठ तत्त्व तो वे ही माने गये हैं।

तदिति। तत्कर्म पृथिव्यादि सृष्ट्वा विनिवर्त्य प्रत्यवेक्षणं कृत्वा भूयः पुनस्तस्यात्मनस्तत्त्वेन भूम्यादिना योगं समेत्य संगमय्य। णिलोपो द्रष्टव्यः। कतिविधैः प्रकारैः। एकेन पृथिव्या द्वाभ्यां त्रिभिरष्टभिर्वा प्रकृतिभूतैस्तत्त्वैः तदुक्तम्—

"भूमिरापोऽनलो वायुः
खं मनो बुद्धिरेव च।
अहंकार इतीयं मे
भिन्ना प्रकृतिरष्टधा॥"
(गीता ७। ४)

इति। कालेन चैवात्मगुणैश्चान्तःकरणगुणैः कामादिभिः सूक्ष्मैः॥ ३॥

'तत्कर्म' इत्यादि। उस पृथिवी आदि कर्मको रचकर उसका निरीक्षण कर फिर उस आत्माका पृथिवी आदि तत्त्वके साथ योग कराकर—यहाँ (समेत्यमें) प्रेरणार्थक 'णिच्' प्रत्ययका लोप समझना चाहिये। कितने प्रकारके तत्त्वोंके साथ? पृथिवीरूप एक तत्त्वके अथवा दो, तीन या अष्टधा प्रकृतिरूप आठ तत्त्वोंके साथ। इस विषयमें [गीतामें] ऐसा कहा है—"पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहंकार—यह मेरी आठ प्रकारकी विभिन्न प्रकृति है।" अथवा कालके और आत्मगुणोंके यानी अन्तःकरणके कामादि सूक्ष्म गुणोंके साथ॥ ३॥



भगवदर्पणकर्मसे भगवत्प्राप्ति

इदानीं कर्मणां मुख्यं विनियोगं दर्शयति—

अब श्रुति कर्मोंका मुख्य विनियोग दिखलाती है—

आरभ्य कर्माणि गुणान्वितानि
भावांश्च सर्वान्विनियोजयेद्यः।
तेषामभावे कृतकर्मनाशः
कर्मक्षये याति स तत्त्वतोऽन्यः॥ ४॥

जो पुरुष सत्त्ववादी गुणमय कर्म आरम्भ कर उन्हें और समस्त भावोंको परमात्माके अर्पण कर देता है, उनके सम्बन्धका अभाव हो जानेसे उसके पूर्वकृत कर्मोंका नाश हो जाता है; और कर्मोंका क्षय हो जानेपर वह [परमात्माको] प्राप्त हो जाता है, क्योंकि वह तत्त्वतः उन [पृथिवी आदि] से अन्य है॥ ४॥

आरभ्येति। आरभ्य कृत्वा कर्माणि गुणैः सत्त्वादिभिरन्वितानि भावांश्चात्यन्तविशेषान्विनियोजयेदीश्वरे समर्पयेद्यः। तेषामीश्वरे समर्पितत्वादात्मसम्बन्धाभावस्तदभावे पूर्वकृतकर्मणां नाशः। उक्तं च—

"यत्करोषि यदश्नासि
यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय
तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥
शुभाशुभफलैरेवं
मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः।"
(गीता ९। २७-२८)

"ब्रह्मण्याधाय कर्माणि
सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः॥
लिप्यते न स पापेन
पद्मपत्रमिवाम्भसा ।

'आरभ्य' इत्यादि। गुण अर्थात् सत्त्वादिसे युक्त कर्मोंको करके उन्हें तथा अपने अत्यन्त विशिष्ट भावोंको जो विनियुक्त करता है अर्थात् ईश्वरको समर्पित कर देता है, ईश्वरको समर्पित कर देनेसे उन कर्मोंका आत्मासे सम्बन्ध नहीं रहता और सम्बन्ध न रहनेसे पूर्वकृत कर्मोंका नाश हो जाता है। कहा भी है—

"हे कुन्तीनन्दन! तू जो कुछ कर्म करता है, जो खाता है, जो श्रौत-स्मार्त यज्ञरूप हवन करता है, जो देता है और जो तप करता है वह सब मुझे अर्पण कर दे। इस प्रकार कर्मोंको मुझे समर्पण करके तू शुभाशुभ फलयुक्त कर्मबन्धनोंसे मुक्त हो जायगा।" "जो पुरुष कर्मोंको ब्रह्मार्पण करते हुए फलासक्ति त्यागकर कर्म करता है वह जलसे कमलके पत्तेके समान पापसे लिप्त

कायेन मनसा बुद्ध्या
केवलैरिन्द्रियैरपि ।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति
सङ्गं त्यक्त्वात्मशुद्धये।''
(गीता ५। १०-११)
इति।

नहीं होता। योगिजन फलविषयक आसक्ति त्यागकर केवल (ममतारहित) शरीर, मन, बुद्धि एवं इन्द्रियोंसे ही चित्तशुद्धिके लिये कर्म किया करते हैं'' इत्यादि।

कर्मक्षये विशुद्धसत्त्वो याति तत्त्वतोऽन्यस्तत्त्वेभ्यः प्रकृतिभूतेभ्योऽन्योऽविद्यातत्कार्यविनिर्मुक्तश्चित्सदानन्दाद्वितीयब्रह्मात्मत्वेनावगच्छन्नित्यर्थः। अन्यदिति पाठे तत्त्वेभ्यो यदन्यद्ब्रह्म तद्यातीति॥ ४॥

कर्मका क्षय हो जानेसे वह शुद्धचित्त हो तत्त्वतः प्रकृतिरूप तत्त्वोंसे भिन्न होनेके कारण अविद्या और उसके कार्यसे छूटकर अपनेको सच्चिदानन्दाद्वितीय ब्रह्मरूपसे जानते हुए [परमात्माको] प्राप्त होता है। जहाँ 'अन्यः' के स्थानमें 'अन्यत्' पाठ हो वहाँ 'तत्त्वोंसे भिन्न जो ब्रह्म है उसे प्राप्त होता है' ऐसा अर्थ समझना चाहिये॥ ४॥

उपासनासे भगवत्प्राप्ति

उक्तस्यार्थस्य द्रढिम्न उत्तरे मन्त्राः प्रस्तूयन्ते कथं नाम विषयान्धा ब्रह्म जानीयुरित्यत आह—

उपर्युक्त अर्थकी पुष्टिके लिये आगेके मन्त्र प्रस्तुत किये जाते हैं। विषयान्ध पुरुष भी किसी प्रकार ब्रह्मको जान जायँ इस उद्देश्यसे श्रुति कहती है—

आदिः स संयोगनिमित्तहेतुः
परस्त्रिकालादकलोऽपि दृष्टः।
तं विश्वरूपं भवभूतमीड्यं
देवं स्वचित्तस्थमुपास्य पूर्वम्॥ ५॥

वह सबका कारण, शरीरसंयोगकी निमित्तभूता अविद्याका हेतु, त्रिकालातीत और कलाहीन देखा गया है। अपने अन्तःकरणमें स्थित उस सर्वरूप एवं संसाररूप देवकी ज्ञानोत्पत्तिसे पूर्व उपासना कर [उसे प्राप्त हो जाता है]॥ ५॥

आदिरिति। आदिः कारणं सर्वस्य, शरीरसंयोगनिमित्ताना-मविद्यानां हेतुः। उक्तं च—"एष ह्येवैनं साधु कर्म कारयति .... एष एवैनमसाधु कर्म कारयति च" (कौ० उ० ३। ९) इति। परस्त्रिकालादतीतानागत-वर्तमानात्। उक्तं च—"यस्मा-दर्वाक्संवत्सरोऽहोभिः परिवर्तते। तद्देवा ज्योतिषां ज्योति-रायुर्होपासतेऽमृतम्" (बृ० उ० ४। ४। १६) इति। कस्मात्? यस्मा-दकलोऽसौ न विद्यन्ते कलाः प्राणादिनामान्ता अस्येत्यकलः कलावद्धि कालत्रयपरिच्छिन्न-मुत्पद्यते विनश्यति च। अयं पुनरकलो निष्प्रपञ्चः। तस्मान्न कालत्रयपरिच्छिन्नः सन्नुत्पद्यते विनश्यति च। तं विश्वानि रूपाण्यस्येति विश्वरूपम्। भवत्यस्मा-

'आदिः' इत्यादि। आदि—सबका कारण; शरीरसंयोगकी निमित्तभूता अविद्याओं (अविद्याजनित कर्मों) का हेतु; कहा भी है—"यही इससे शुभ कर्म कराता है और यही इससे अशुभ कर्म कराता है।" भूत, भविष्य और वर्तमान तीनों कालोंसे अतीत; जैसे कहा है—'जिसके नीचे संवत्सर दिनोंके द्वारा परिवर्तित होता है, देवगण उसकी ज्योतियोंके ज्योति, आयु और अमृतरूपसे उपासना करते हैं।' क्यों त्रिकालातीत है?—क्योंकि यह अकल है—इसके प्राणसे लेकर नामपर्यन्त कलाएँ नहीं हैं, इसलिये यह अकल है। कलावान् पदार्थ ही तीनों कालोंसे परिच्छिन्न होनेके कारण उत्पन्न और नष्ट होता है। किन्तु यह तो अकल यानी निष्प्रपञ्च है, इसलिये कालत्रयसे परिच्छिन्न न होनेके कारण उत्पन्न या नष्ट नहीं होता। उस विश्वरूप—जिसके विश्व (समस्त) रूप हैं, भव—जिससे जगत् उत्पन्न होता है, भूत—

दिति भवः। भूतमवितथस्वरूपम्। ईड्यं देवं स्वचित्तस्थमुपास्यायमहमस्मीति समाधानं कृत्वा पूर्वं वाक्यार्थज्ञानोदयात्॥ १५॥

सत्यस्वरूप, अपने चित्तमें स्थित, स्तुत्य देवको पूर्व—वाक्यार्थज्ञान उदय होनेसे पहले उपासना कर अर्थात् 'यह मैं हूँ' इस प्रकार उसमें चित्त समाहित कर [उसे प्राप्त हो जाता है]॥ ५॥

ज्ञानसे भगवत्प्राप्ति

पुनरपि तमेव दर्शयति—

फिर भी श्रुति उसे ही दिखलाती है—

स वृक्षकालाकृतिभिः परोऽन्यो
यस्मात्प्रपञ्चः परिवर्ततेऽयम्।
धर्मावहं पापनुदं भगेशं
ज्ञात्वात्मस्थममृतं विश्वधाम॥ ६॥

वह, जिससे कि यह प्रपञ्च प्रवृत्त होता है, वृक्षाकार और कालाकारसे अतीत तथा प्रपञ्चसे भिन्न है। धर्मकी प्राप्ति करानेवाले और पापका नाश करनेवाले उस ऐश्वर्यके अधिपतिको जानकर [पुरुष] आत्मस्थ, अमृतस्वरूप और विश्वाधार [परमात्माको प्राप्त हो जाता है]॥ ६॥

स वृक्षेति। स वृक्षाकारेभ्यः। कालाकारेभ्यः परो वृक्षकालाकृतिभिः परः। वृक्षः संसारवृक्षः। उक्तं च—"ऊर्ध्वमूलो ह्यवाक्शाख एषोऽश्वत्थः सनातनः"

'स वृक्षः' इत्यादि। वह वृक्षाकार और कालाकारसे पर (उत्कृष्ट) है, 'वृक्ष' शब्दसे यहाँ संसारवृक्ष समझना चाहिये; कहा भी है—"ऊपरकी ओर मूल और नीचेकी ओर शाखाओंवाला यह सनातन अश्वत्थ

(क० उ० २। ३। १) इति। अन्यः प्रपञ्चासंस्पृष्ट इत्यर्थः। यस्मादीश्वरात् प्रपञ्चः परिवर्तते। धर्मावहं पापनुदं भगस्यैश्वर्यादेरीशं स्वामिनं ज्ञात्वात्मस्थमात्मनि बुद्धौ स्थितममृतममरणधर्माणं विश्वधाम विश्वस्याधारभूतं याति। स तत्त्वतोऽन्य इति सर्वत्र सम्बध्यते॥ ६॥

वृक्ष है'' इत्यादि। अन्य अर्थात् प्रपञ्चसे असंस्पृष्ट है। जिस ईश्वरसे प्रपञ्च प्रवृत्त होता है, धर्मकी प्राप्ति करानेवाले और पापका उच्छेद करनेवाले उस भग यानी ऐश्वर्यादिके स्वामीको जानकर [पुरुष] आत्मस्थ—आत्मा यानी बुद्धिमें स्थित, अमृत—अमरणधर्मा, विश्वधाम—विश्वके आधारभूत परमात्माको प्राप्त हो जाता है, क्योंकि 'वह (जीव) पृथिवी आदि तत्त्वोंसे भिन्न है'—इस वाक्यका सबके साथ सम्बन्ध है॥ ६॥

ज्ञानियोंके तत्त्वानुभवका उल्लेख

इदानीं विद्वदनुभवं दर्शयन्नुक्तमर्थं दृढीकरोति—

अब विद्वान्‌का अनुभव दिखलाते हुए श्रुति उपर्युक्त अर्थको पुष्ट करती है—

तमीश्वराणां परमं महेश्वरं
तं देवतानां परमं च दैवतम्।
पतिं पतीनां परमं परस्ता-
द्विदाम देवं भुवनेशमीड्यम्॥ ७॥

ईश्वरोंके परम महान् ईश्वर, देवताओंके परमदेव, पतियोंके परमपति, अव्यक्तादि परसे पर तथा विश्वके अधिपति उस स्तवनीय देवको हम जानते हैं॥ ७॥

तमीश्वराणामिति। तमीश्वराणां वैवस्वतयमादीनां परमं महेश्वरं तं देवतानामिन्द्रादीनां परमं च दैवतं पतिं पतीनां प्रजापतीनां परमं परस्तात्परतोऽक्षरात्। विदाम देवं द्योतनात्मकं भुवनानामीशं भुवनेशम्। ईड्यं स्तुत्यम्॥ ७॥

'तमीश्वराणाम्' इत्यादि। उस वैवस्वत यमादि ईश्वरों (लोकपालों) के परम महेश्वर, इन्द्रादि देवताओंके परम देव, पतियों—प्रजापतियोंके परम पति, पर—अक्षरसे पर, भुवनोंके ईश्वर, देव—द्योतनात्मक, ईड्य—स्तुत्य [परमात्माको] हम जानते हैं॥ ७॥



परमेश्वरकी महत्ता

कथं महेश्वरत्वम्? इत्याह—

उसकी महेश्वरता किस प्रकार है, सो बतलाते हैं—

न तस्य कार्यं करणं च विद्यते
न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते।
परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते
स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च॥ ८॥

उसके शरीर और इन्द्रियाँ नहीं हैं, उसके समान और उससे बढ़कर भी कोई दिखायी नहीं देता, उसकी पराशक्ति नाना प्रकारकी ही सुनी जाती है और वह स्वाभाविकी ज्ञानक्रिया और बलक्रिया है॥ ८॥

न तस्येति। न तस्य कार्यं शरीरं करणं चक्षुरादि विद्यते। न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते श्रूयते वा। परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते। सा च स्वाभाविकी

'न तस्य' इत्यादि। उसके कार्य—शरीर और करण—चक्षु आदि इन्द्रियाँ नहीं हैं। उसके समान और उससे बढ़कर भी कोई देखा या सुना नहीं जाता। उसकी पराशक्ति नाना प्रकारकी ही सुनी जाती है और

ज्ञानबलक्रिया च ज्ञानक्रिया बलक्रिया च ज्ञानक्रिया सर्वविषयज्ञानप्रवृत्तिः। बलक्रिया स्वसंनिधिमात्रेण सर्वं वशीकृत्य नियमनम्॥ ८॥

वह स्वाभाविक ज्ञानबलक्रिया अर्थात् ज्ञानक्रिया और बलक्रिया है। ज्ञानक्रिया—सम्पूर्ण विषयोंके ज्ञानकी प्रवृत्ति और बलक्रिया—अपनी सन्निधिमात्रसे सबको वशमें करके नियमन करना॥ ८॥

यस्मादेवं तस्मात्—

क्योंकि ऐसा है इसलिये—

न तस्य कश्चित्पतिरस्ति लोके
न चेशिता नैव च तस्य लिङ्गम्।
स कारणं करणाधिपाधिपो
न चास्य कश्चिज्जनिता न चाधिपः॥ ९॥

लोकमें उसका कोई स्वामी नहीं है, न कोई शासक या उसका चिह्न ही है। वह सबका कारण है और इन्द्रियाधिष्ठाता जीवका स्वामी है। उसका न कोई उत्पत्तिकर्ता है और न स्वामी है॥ ९॥

न तस्य कश्चित्पतिरस्ति लोके। अत एव न तस्येशिता नियन्ता। नैव च तस्य लिङ्गं चिह्नं धूमस्थानीयं येनानुमीयेत। स कारणं सर्वस्य कारणम्। करणाधिपाधिपः परमेश्वरः। यस्मादेवं तस्मान्न तस्य कश्चिज्जनिता जनयिता न चाधिपः॥ ९॥

लोकमें उसका कोई स्वामी नहीं है, अतः उसका कोई ईशिता—नियन्ता भी नहीं है। उसका कोई लिङ्ग—धूमादिरूप चिह्न भी नहीं है, जिससे अनुमान किया जा सके। वह सबका कारण और करणाधिप—परमेश्वर है। क्योंकि ऐसा है, इसलिये उसका कोई जनिता—जनयिता अर्थात् उत्पत्तिकर्ता और स्वामी भी नहीं है॥ ९॥

ब्रह्मसायुज्यके लिये परमेश्वरसे प्रार्थना

इदानीं मन्त्रदृगभिप्रेतमर्थं प्रार्थयते—

अब श्रुति मन्त्रद्रष्टा [ऋषियों] के अभिमत पदार्थके लिये प्रार्थना करती है—

यस्तन्तुनाभ इव तन्तुभिः प्रधानजैः स्वभावतो देव एकः स्वमावृणोत्। स नो दधाद्ब्रह्माप्ययम्॥ १०॥

तन्तुओंसे मकड़ीके समान जिस एकमात्र देवने स्वभावतः ही प्रधानजनित कार्योंसे अपनेको आवृत कर लिया है वह हमें ब्रह्मसे एकीभाव प्रदान करे॥ १०॥

यस्तन्तुनाभ इति। यथोर्णनाभिरात्मप्रभवैस्तन्तुभिरात्मानमेव समावृणोति तथा प्रधानजैरव्यक्तप्रभवैर्नामरूपकर्मभिस्तन्तुस्थानीयैः स्वमात्मानमावृणोत् सञ्छादितवान्स नो मह्यं ब्रह्मण्यप्ययं ब्रह्माप्ययमेकीभावं दधाद्दात्वित्यर्थः॥ १०॥

'यस्तन्तुनाभः' इत्यादि। जिस प्रकार मकड़ी अपनेसे उत्पन्न हुए तन्तुओंसे अपनेहीको आवृत कर लेती है उसी प्रकार प्रधानज अर्थात् अव्यक्तसे उत्पन्न हुए तन्तुरूप नाम, रूप और कर्मोंसे जिसने अपनेको आच्छादित कर रखा है वह हमें ब्रह्ममें लय यानी एकीभाव प्रदान करे॥ १०॥

परमेश्वरके स्वरूपका निर्देश

पुनरपि तमेव करतलन्यस्तामलकवत्साक्षाद्दर्शयंस्तद्विज्ञानादेव परमपुरुषार्थप्राप्तिर्नान्येनेति दर्शयति मन्त्रद्वयेन—

फिर भी हथेलीपर रखे हुए आँवलेके समान उसीको साक्षात्-रूपसे दिखाते हुए श्रुति दो मन्त्रोंद्वारा इस बातको प्रदर्शित करती है कि उसके विशेष ज्ञानसे ही परमपुरुषार्थकी प्राप्ति होती है, और किसीसे नहीं—

एको देवः सर्वभूतेषु गूढः
सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा।
कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः
साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च॥ ११॥

समस्त प्राणियोंमें स्थित एक देव है; वह सर्वव्यापक, समस्त भूतोंका अन्तरात्मा, कर्मोंका अधिष्ठाता, समस्त प्राणियोंमें बसा हुआ, सबका साक्षी, सबको चेतनत्व प्रदान करनेवाला, शुद्ध और निर्गुण है॥ ११॥

एको देव इति एकोऽद्वितीयो देवो द्योतनस्वभावः सर्वभूतेषु गूढः सर्वप्राणिषु संवृतः। सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा स्वरूपभूत इत्यर्थः। कर्माध्यक्षः सर्वप्राणिकृतविचित्रकर्माधिष्ठाता। सर्वभूताधिवासः सर्वप्राणिषु वसतीत्यर्थः। सर्वेषां भूतानां साक्षी सर्वद्रष्टा। "साक्षाद्द्रष्टरि संज्ञायाम्" (पा० सू० ५। २। ९१) इति स्मरणात्। चेता चेतयिता। केवलो निरुपाधिकः। निर्गुणः सत्त्वादिगुणरहितः॥ ११॥

'एको देवः' इत्यादि। सर्वभूतोंमें गूढ—समस्त प्राणियोंमें छिपा हुआ एक—अद्वितीय देव—प्रकाशनशील परमात्मा है। [वह] सर्वव्यापी, सर्वभूतान्तरात्मा अर्थात् सबका स्वरूपभूत कर्माध्यक्ष—समस्त प्राणियोंके किये हुए विभिन्न कर्मोंका अधिष्ठाता, सर्वभूताधिवास अर्थात् समस्त प्राणियोंमें निवास करनेवाला, समस्त भूतोंका साक्षी अर्थात् सर्वद्रष्टा है, क्योंकि "साक्षाद्द्रष्टरि संज्ञायाम्" इस पाणिनिसूत्ररूप स्मृतिके अनुसार 'साक्षी' शब्दका अर्थ द्रष्टा है। तथा वह चेता—चेतनत्व प्रदान करनेवाला, केवल—उपाधिशून्य और निर्गुण—सत्त्वादि गुणरहित है॥ ११॥

परमात्मज्ञानसे नित्यसुखकी प्राप्ति और मोक्ष

एको वशी निष्क्रियाणां बहूना-
मेकं बीजं बहुधा यः करोति।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरा-
स्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम्॥ १२॥

जो एक अद्वितीय स्वतन्त्र परमात्मा बहुत-से निष्क्रिय जीवोंके एक बीजको अनेक रूप कर देता है, अपने अन्तःकरणमें स्थित उस [देव] को जो मतिमान् देखते हैं उन्हें ही नित्यसुख प्राप्त होता है, औरोंको नहीं॥ १२॥

एको वशीति। एको वशी स्वतन्त्रो निष्क्रियाणां बहूनां जीवानाम्। सर्वा हि क्रिया नात्मनि समवेताः किन्तु देहेन्द्रियेषु। आत्मा तु निष्क्रियो निर्गुणः सत्त्वादिगुणरहितः कूटस्थः सन्ननात्मधर्मानात्मन्यध्यस्याभिमन्यते कर्ता भोक्ता सुखी दुःखी कृशः स्थूलो मनुष्योऽमुष्य पुत्रोऽस्य नप्तेति। उक्तं च—

"प्रकृतेः क्रियमाणानि
गुणैः कर्माणि सर्वशः।

'एको वशी' इत्यादि। जो एक वशी—स्वतन्त्र परमात्मा बहुत-से निष्क्रिय जीवोंके एक बीज—बीज-स्थानीय भूतसूक्ष्मको अनेकरूप कर देता है उस आत्मस्थ—बुद्धिमें स्थित [देव] को जो धीर—बुद्धिमान् देखते हैं—साक्षात्‌रूपसे जान लेते हैं उन आत्मवेत्ताओंको नित्य सुख प्राप्त होता है, अन्य अनात्मज्ञोंको नहीं। [यहाँ जीवोंको निष्क्रिय इसलिये कहा है कि] सारी क्रियाओंका साक्षात् सम्बन्ध आत्मासे नहीं, अपितु देह और इन्द्रियोंसे है। आत्मा तो निष्क्रिय, निर्गुण अर्थात् सत्त्वादि गुणोंसे रहित और कूटस्थ होते हुए अपनेमें अनात्म-

अहङ्कारविमूढात्मा
कर्ताहमिति मन्यते॥
तत्त्ववित्तु महाबाहो
गुणकर्मविभागयोः ।
गुणा गुणेषु वर्तन्त
इति मत्वा न सज्जते॥
प्रकृतेर्गुणसम्मूढाः
सज्जन्ते गुणकर्मसु॥''
(गीता ३। २७—२९)
इति।

एकं बीजं बीजस्थानीयं भूतसूक्ष्मं बहुधा यः करोति तमात्मस्थं बुद्धौ स्थितं येऽनुपश्यन्ति साक्षाज्जानन्ति धीरा बुद्धिमन्तस्तेषामात्मविदां सुखं शाश्वतं नेतरेषामनात्मविदाम्॥ १२॥

धर्मोंका अध्यास करके ऐसा अभिमान करने लगता है कि मैं कर्ता, भोक्ता, सुखी, दुःखी, कृश, स्थूल, मनुष्य, अमुकका पुत्र अथवा इसका नाती हूँ इत्यादि। कहा भी है—''[हे अर्जुन!] सारे कर्म प्रकृतिके गुणोंद्वारा किये जाते हैं; अहङ्कारसे मोहित हुए पुरुष ऐसा मानने लगते हैं कि 'मैं कर्ता हूँ'। किन्तु हे महाबाहो! जो गुण और कर्मके विभागका मर्मज्ञ है वह तो 'गुण गुणोंमें वर्त रहे हैं' ऐसा मानकर उनमें आसक्त नहीं होता, जो लोग प्रकृतिके गुणोंसे मोहित हैं वे ही उन गुण और कर्मोंमें आसक्त होते हैं'' इत्यादि॥ १२॥

किञ्च—

तथा—

नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनाना-
मेको बहूनां यो विदधाति कामान्।
तत्कारणं साङ्ख्ययोगाधिगम्यं
ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः॥ १३॥

जो नित्योंमें नित्य, चेतनोंमें चेतन और अकेला ही बहुतोंको भोग प्रदान करता है, सांख्ययोगद्वारा ज्ञातव्य उस सर्वकारण देवको जानकर [पुरुष] समस्त बन्धनोंसे मुक्त हो जाता है॥ १३॥

नित्य इति। नित्यो नित्यानां जीवानां मध्ये तन्नित्यत्वेन तेषामपि नित्यत्वमित्यभिप्रायः। अथवा पृथिव्यादीनां मध्ये। तथा चेतनश्चेतनानां प्रमातृणां मध्ये। एको बहूनां जीवानां यो विदधाति प्रयच्छति कामान्कामनिमित्तान्भोगान्। सर्वस्य सांख्ययोगाधिगम्यं ज्ञात्वा देवं ज्योतिर्मयं मुच्यते सर्वपाशैरविद्यादिभिः॥ १३॥

'नित्यः' इत्यादि। नित्य जीवोंके मध्यमें जो नित्य है, अभिप्राय यह कि उसके नित्यत्वसे ही उनका भी नित्यत्व है, अथवा पृथिवी आदि नित्योंमें जो नित्य है तथा चेतन प्रमाताओंमें जो चेतन है; जो अकेला ही बहुत-से जीवोंके काम—कामनिमित्तक भोगोंका विधान यानी दान करता है और सबके लिये सांख्ययोगद्वारा ज्ञातव्य है, उस देव-प्रकाशस्वरूपको जानकर [पुरुष] समस्त पाशोंसे अर्थात् अविद्यादिसे मुक्त हो जाता है॥ १३॥

ब्रह्मके प्रकाशसे ही सबको प्रकाशकी प्राप्ति

कथं चेतनश्चेतनानाम्? इत्युच्यते—

वह चेतनामें चेतन किस प्रकार है? सो बतलाया जाता है—

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं
नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं
तस्य भासा सर्वमिदं विभाति॥ १४॥

वहाँ सूर्य प्रकाशित नहीं होता, न चन्द्र और तारे प्रकाशित होते हैं और न ये बिजलियाँ ही चमकती हैं, फिर यह अग्नि तो कहाँ प्रकाशित हो सकता है? ये सब उसके प्रकाशित होनेसे ही प्रकाशित होते हैं, उसीके प्रकाशसे ये सब प्रकाशित हैं॥ १४॥

न तत्रेति। तत्र तस्मिन्परमात्मनि सर्वावभासकोऽपि सूर्यो न भाति ब्रह्म न प्रकाशयतीत्यर्थः। स हि तस्यैव भासा सर्वात्मनो रूपजातं प्रकाशयति। न तु तस्य स्वतःप्रकाशनसामर्थ्यम्। तथा न चन्द्रतारकम्। नेमा विद्युतो भान्ति। कुतोऽयमग्निरस्मद्गोचरः। किं बहुना यदिदं जगद्भाति तमेव स्वतो भारूपत्वाद्भान्तं दीप्यमानमनुभात्यनुदीप्यते। यथा लोहादि वह्निं दहन्तमनुदहति न स्वतः। तस्यैव भासा दीप्त्या सर्वमिदं सूर्यादि भाति। उक्तं च—"येन सूर्यस्तपति तेजसेद्धः" "न तद्भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः।" (गीता १५। ६) इति॥ १४॥

'न तत्र' इत्यादि। वहाँ—उस परमात्मामें, सबका प्रकाशक होनेपर भी सूर्य प्रकाशित नहीं होता; अर्थात् वह ब्रह्मको प्रकाशित नहीं करता। अपितु वह उस सर्वात्मा ब्रह्मके प्रकाशसे ही सब रूपोंको प्रकाशित करता है; क्योंकि उसमें स्वयं प्रकाशित करनेका सामर्थ्य नहीं है। तथा न चन्द्र और तारे, एवं न विद्युत् ही वहाँ प्रकाशित होते हैं। फिर हमें दिखायी देनेवाला यह अग्नि तो प्रकाशित हो ही कैसे सकता है? अधिक क्या, यह जो जगत् भास रहा है, स्वतः प्रकाशरूप होनेके कारण उस परमात्माके प्रकाशित होनेसे ही प्रकाशित हो रहा है, जिस प्रकार लोहा आदि पदार्थ जलानेवाले अग्निके साथ ही [उसीकी शक्तिसे] जलाते हैं स्वतः नहीं। ये सब सूर्यादि उसके ही प्रकाश यानी दीप्तिसे प्रकाशित होते हैं। कहा भी है "जिसके तेजसे युक्त होकर सूर्य तपता है", "उसे न सूर्य प्रकाशित करता है, न चन्द्रमा और न अग्नि ही" इत्यादि॥ १४॥

मोक्षके लिये ज्ञानके सिवा अन्य हेतुओंका निषेध

ज्ञात्वा देवं मुच्यत इत्युक्तम्। कस्मात्पुनस्तमेव विदित्वा मुच्यते नान्येनेत्यत्राह—

ऊपर यह कहा है कि उस देवको जानकर मुक्त हो जाता है; अब यह बतलाते हैं कि उसीको जानकर क्यों मुक्त होता है, किसी और कारणसे क्यों नहीं होता?

एको हꣳसो भुवनस्यास्य मध्ये
स एवाग्निः सलिले संनिविष्टः।
तमेव विदित्वाति मृत्युमेति
नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय॥ १५॥

इस भुवनके मध्य एक हंस है वही जलमें (पञ्चमाहुतिरूप देहमें) स्थित अग्नि है। उसीको जानकर पुरुष मृत्युके पार हो जाता है। इससे भिन्न मोक्षप्राप्तिका कोई और मार्ग नहीं है॥ १५॥

एक इति। एकः परमात्मा हन्त्यविद्यादिबन्धकारणमिति हंसो भुवनस्यास्य त्रैलोक्यस्य मध्ये नान्यः कश्चित्। कस्मात्? यस्मात्स एवाग्निः। अग्निरिवाग्निरविद्यातत्कार्यस्य दाहकत्वात्। उक्तं च—"व्योमातीतोऽग्निरीश्वरः" इति। सलिले देहात्मना परिणते। उक्तं च—"इति तु पञ्चम्यामाहुतावापः

'एकः' इत्यादि। एक परमात्मा, जो अविद्यादि बन्धनके कारणका हनन करता है इसलिये हंस है, इस भुवन—त्रिलोकीके मध्यमें स्थित है, और कोई नहीं। क्यों नहीं है? क्योंकि वही अग्नि है—अविद्या और उसके कार्यका दाह करनेवाला होनेसे वह अग्निके समान अग्नि है। कहा भी है—"ईश्वर आकाशातीत अग्नि है" इत्यादि। सलिलमें अर्थात् देहरूपमें परिणत हुए जलमें, जैसे कहा है—"इस प्रकार पाँचवीं आहुतिमें आप

पुरुषवचसो भवन्ति'' (छा० उ० ५। ९। १) इति संनिविष्टः सम्यगात्मत्वेन निविष्टः। अथवा सलिले सलिल इव स्वच्छे यज्ञदानादिना विमलीकृतेऽन्तःकरणे संनिविष्टो वेदान्तवाक्यार्थसम्यग्ज्ञानफलकारूढोऽविद्यातत्कार्यस्य दाहक इत्यर्थः। तस्मात्तमेव विदित्वाति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय॥ १५॥

(जल) पुरुष नामवाला हो जाता है।'' सन्निविष्ट—आत्मभावसे सम्यग्रूपसे स्थित है। अथवा 'सलिले'—यज्ञदानादिद्वारा सलिल (जल) के समान स्वच्छ किये अन्तःकरणमें स्थित वेदान्तवाक्यार्थके सम्यग्ज्ञानके फलरूपसे अविद्या और उसके कार्यका दाह करनेवाला [अग्नि]—ऐसा भी अर्थ हो सकता है। अतः उसीको जानकर पुरुष मृत्युके पार हो जाता है, मोक्षके लिये कोई और मार्ग नहीं है॥ १५॥

परमेश्वरके स्वरूपका विशेषरूपसे वर्णन

परमपदप्राप्तये पुनरपि तमेव विशेषतो दर्शयति—

परमपदकी प्राप्तिके लिये श्रुति फिर भी उसीको विशेषरूपसे प्रदर्शित करती है—

स विश्वकृद्विश्वविदात्मयोनि-
र्ज्ञः कालकारो गुणी सर्वविद्यः।
प्रधानक्षेत्रज्ञपतिर्गुणेशः
सꣳसारमोक्षस्थितिबन्धहेतुः ॥ १६ ॥

वह विश्वका कर्ता, विश्ववेत्ता, आत्मयोनि (स्वयम्भू), ज्ञाता, कालका प्रेरक, अपहतपाप्मत्वादि गुणवान् और सम्पूर्ण विद्याओंका आश्रय है। तथा वही प्रधान और पुरुषका अध्यक्ष, गुणोंका नियामक एवं संसारके मोक्ष, स्थिति और बन्धनका हेतु है॥ १६॥

स विश्वकृदिति। स विश्वकृद्विश्वस्य कर्ता। विश्वं वेत्तीति विश्ववित्। आत्मा चासौ योनिश्चेत्यात्मयोनिः। जानातीति ज्ञः। सर्वस्यात्मा सर्वस्य च योनिः सर्वज्ञश्चैतन्यज्योतिरित्यर्थः। कालकारः कालस्य कर्ता गुण्यपहतपाप्मादिमान्विश्वविदित्यस्य प्रपञ्चः। प्रधानमव्यक्तम्। क्षेत्रज्ञो विज्ञानात्मा। तयोः पतिः पालयिता। गुणानां सत्त्वरजस्तमसामीशः। संसारमोक्षस्थितिबन्धानां हेतुः कारणम्॥ १६॥

'स विश्वकृत्' इत्यादि। वह विश्वकृत्—विश्वका कर्ता है, विश्वको जानता है— इसलिये विश्ववेत्ता है, आत्मा और योनि है इसलिये आत्मयोनि है, जानता है इसलिये ज्ञ है। तात्पर्य यह है कि वह सबका आत्मा, सबका योनि (उत्पत्तिस्थान) और सर्वज्ञ अर्थात् चैतन्यज्योति है। तथा कालकार—कालका कर्ता और गुणी—अपहतपाप्मत्वादि गुणवान् है। यह सब 'विश्ववित्' इस विशेषणका विस्तार है। [इसके सिवा] वही प्रधान—अव्यक्त और क्षेत्रज्ञ—विज्ञानात्मा, इन दोनोंका पति-पालन करनेवाला, सत्त्व, रज, तम—इन तीनों गुणोंका नियामक तथा संसारके मोक्ष, स्थिति और बन्धनका हेतु यानी कारण है॥ १६॥

किञ्च— | तथा—

स तन्मयो ह्यमृत ईशसंस्थो
ज्ञः सर्वगो भुवनस्यास्य गोप्ता।
य ईशे अस्य जगतो नित्यमेव
नान्यो हेतुर्विद्यत ईशनाय॥ १७॥

वह तन्मय (जगद्रूप अथवा ज्योतिर्मय), अमरणधर्मा, ईश्वररूपसे स्थित, ज्ञाता, सर्वगत और इस भुवनका रक्षक है, जो सर्वदा इस जगत्का

शासन करता है; क्योंकि इसका शासन करनेके लिये कोई और समर्थ नहीं है॥ १७॥

स तन्मय इति। स तन्मयो विश्वात्मा। अथवा तन्मयो ज्योतिर्मय इति 'तस्य भासा सर्वमिदं विभाति' इत्येतदपेक्षयोच्यते। अमृतोऽमरणधर्मा। ईशे स्वामिनि सम्यक्स्थितिर्यस्यासावीश-संस्थः। जानातीति ज्ञः। सर्वत्र गच्छतीति सर्वगः। भुवनस्यास्य गोप्ता पालयिता। य ईश ईष्टेऽस्य जगतो नित्यमेव नियमेन नान्यो हेतुः समर्थो विद्यत ईशनाय जगदीशनाय॥ १७॥

'स तन्मयः' इत्यादि। वह तन्मय अर्थात् विश्वरूप है। अथवा 'उसके प्रकाशसे यह सब प्रकाशित है' इस उक्तिकी अपेक्षासे 'तन्मय' शब्दसे ज्योतिर्मय भी कहा जा सकता है। अमृत—अमरणधर्मा, ईश यानी ईश्वरभावमें जिसकी सम्यक् स्थिति है अतः वह ईशसंस्थ है, जानता है इसलिये ज्ञ है, सर्वत्र जाता है इसलिये सर्वग है, इस भुवनका गोप्ता यानी पालनकर्ता है, जो इस जगत्को नित्य-नियमसे शासित करता है, क्योंकि जगत्के शासनके लिये कोई और हेतु समर्थ नहीं है॥ १७॥

मुमुक्षुके लिये भगवच्छरणागतिका उपदेश

यस्मात्स एव संसारमोक्ष-स्थितिबन्धहेतुस्तस्मात्तमेव मुमुक्षुः सर्वात्मना शरणं प्रपद्येत गच्छेदिति प्रतिपादयितुमाह—

क्योंकि वही संसारके मोक्ष, स्थिति और बन्धनका हेतु है इसलिये मुमुक्षु पुरुषको सब प्रकार उसीकी शरणमें जाना चाहिये—यह प्रतिपादन करनेके लिये श्रुति कहती है—

यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं
यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै।

तꣳह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं
मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये ॥ १८ ॥

जो सृष्टिके आरम्भमें ब्रह्माको उत्पन्न करता है और जो उसके लिये वेदोंको प्रवृत्त करता है, अपनी बुद्धिको प्रकाशित करनेवाले उस देवकी मैं मुमुक्षु शरण ग्रहण करता हूँ॥ १८ ॥

यो ब्रह्माणमिति। यो ब्रह्माणं हिरण्यगर्भं विदधाति सृष्टवान्पूर्वं सर्गादौ। यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै। तं ह हशब्दोऽवधारणे। तमेव परमात्मानम्। उक्तं च—

''तमेव धीरो विज्ञाय
प्रज्ञां कुर्वीत ब्राह्मणः।
नानुध्यायाद्बहूञ्छब्दा-
न्वाचो विग्लापनं हि तत्॥''
(बृ० उ० ४। ४। २१)

''तमेवैकं जानथात्मानम्'' (मु० उ० २। २। ५) इति च। देवं ज्योतिर्मयम्। आत्मनि या बुद्धिस्तस्याः प्रसादकरम्। प्रसन्ने हि परमेश्वरे बुद्धिरपि तद्विषया प्रमा निष्प्रपञ्चाकार-ब्रह्मात्मनावतिष्ठते वर्तते। आत्मबुद्धिप्रकाशमित्यन्येऽधीयते। आत्मबुद्धिं प्रकाशयतीत्यात्मबुद्धि-प्रकाशम्। अथवात्मैव बुद्धि-

'यो ब्रह्माणम्' इत्यादि। जिसने पहले अर्थात् सृष्टिके आरम्भमें ब्रह्मा—हिरण्यगर्भको रचा है और जो उसके लिये वेदोंको प्रवृत्त करता है। 'त ह' यहाँ 'ह' शब्द निश्चयार्थक है, अर्थात् उसी परमात्माको। कहा भी है—''बुद्धिमान् ब्रह्मवेत्ता उसीको जानकर उसीमें मनोनिवेश करे, बहुत-से शब्दों—शास्त्रोंको न पढ़े, क्योंकि वह तो वाणीको पीड़ित करना ही है'' तथा ''उसी एक आत्माको जानो'' इत्यादि। देव—ज्योतिर्मय। अपनेमें जो बुद्धि है उसका प्रसाद[1] (विकास) करनेवाले, क्योंकि परमेश्वरके प्रसन्न होनेपर बुद्धि यानी परमेश्वरविषयिणी प्रमा भी निष्प्रपञ्च ब्रह्माकारसे स्थित हो जाती है। दूसरे लोग यहाँ 'आत्मबुद्धि-प्रकाशम्' ऐसा पाठ मानते हैं। [तब यह अर्थ होगा—] अपनी बुद्धिको प्रकाशित करता है इसलिये जो आत्मबुद्धि-प्रकाश है; अथवा आत्मा ही बुद्धि है

१-यह व्याख्या 'आत्मबुद्धिप्रसाद' पाठ मानकर की गयी है।

रात्मबुद्धिः सैव प्रकाशोऽस्येत्यात्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुर्वै वैशब्दोऽवधारणे मुमुक्षुरेव सन्न फलान्तरमिच्छञ्शरणमहं प्रपद्ये॥ १८॥

वही जिसका प्रकाश है उस आत्मबुद्धिप्रकाशकी मैं मुमुक्षु—यहाँ 'वै' शब्द निश्चयार्थक है [अतः तात्पर्य यह है कि] मुमुक्षु होकर ही शरण लेता हूँ, किसी अन्य फलकी इच्छा करता हुआ नहीं॥ १८॥

एवं तावत्सृष्ट्यादिना यल्लक्ष्यं स्वरूपं दर्शितम्, अथेदानीं तत्स्वरूपेण दर्शयति—

इस प्रकार यहाँतक सृष्टि आदि कार्यसे लक्षित होनेवाले जिस स्वरूपका वर्णन किया है उसीको अब साक्षात्स्वरूपसे प्रदर्शित करते हैं—

निष्कलं निष्क्रियꣳ शान्तं निरवद्यं निरञ्जनम्।
अमृतस्य परꣳ सेतुं दग्धेन्धनमिवानलम्॥ १९॥

जो कलाहीन, क्रियाहीन, शान्त, अनिन्द्य, निर्लेप, अमृतत्वका उत्कृष्ट सेतु और जिसका ईंधन जल चुका है (धूमादिशून्य) अग्निके समान (देदीप्यमान) है (उस देवकी मैं शरण लेता हूँ)॥ १९॥

निष्कलमिति। कला अवयवा निर्गता यस्मात्तं निष्कलं निरवयवमित्यर्थः। निष्क्रियं स्वमहिमप्रतिष्ठितं कूटस्थमित्यर्थः। शान्तमुपसंहृतसर्वविकारम्। निरवद्यमगर्हणीयम्। निरञ्जनं निर्लेपम्। अमृतस्यामृतत्वस्य मोक्षस्य

'निष्कलम्' इत्यादि। जिससे कला यानी अवयव निकल गये हैं उस निष्कल अर्थात् निरवयव, निष्क्रिय—अपनी महिमामें स्थित अर्थात् कूटस्थ, शान्त—जिसके सब विकारोंका अन्त हो गया है, निरवद्य—अनिन्द्य, निरञ्जन—निर्लेप, अमृत यानी अमृतत्व-मोक्षकी

प्राप्तये सेतुरिव सेतुः संसारमहोदधेरुत्तारणोपायत्वात्तम् अमृतस्य परं सेतुं दग्धेन्धनानलमिव देदीप्यमानं झटझटायमानम्॥ १९॥

प्राप्तिके लिये जो सेतुके समान सेतु है, क्योंकि वह संसार-सागरसे पार होनेका साधन है, उस अमृतत्वके परमसेतु तथा जिसका ईंधन जल गया है उस अग्निके समान देदीप्यमान—जगमगाते हुए [देवकी मैं शरण लेता हूँ]॥ १९॥

परमात्मज्ञानके बिना दुःख-निवृत्तिकी असम्भावना

किमिति तमेव विदित्वा मुच्यते नान्येन? इति तत्राह—

तो क्या उसीको जानकर पुरुष मुक्त होता है किसी और साधनसे नहीं? इसपर कहते हैं—

यदा चर्मवदाकाशं वेष्टयिष्यन्ति मानवाः।
तदा देवमविज्ञाय दुःखस्यान्तो भविष्यति॥ २०॥

जिस समय लोग चमड़ेके समान आकाशको लपेट लेंगे उस समय उस देवको न जानकर भी दुःखका अन्त हो जायगा*॥ २०॥

यदेदि। यदा यद्वच्चर्म सङ्कोचयिष्यति तद्वदाकाशममूर्तं व्यापिनं यदिवेष्टयिष्यन्ति संवेष्टयिष्यन्ति मानवास्तदा देवं ज्योतिर्मयमनुदितानस्तमितज्ञानात्मनावस्थित-

'यदा' इत्यादि। जिस समय, जैसे कोई [फैले हुए] चमड़ेको लपेट ले उसी प्रकार यदि अमूर्त और व्यापक आकाशको भी मनुष्य सम्यक् प्रकारसे लपेट लें, उस समय देव यानी ज्योतिर्मय—उदय-अस्तसे

* तात्पर्य यह है कि परमात्माको बिना जाने दुःखका अन्त होना ऐसा ही असम्भव है जैसा कि विभु और अमूर्त आकाशको परिच्छिन्न एवं मूर्तस्वरूप चर्मके समान लपेटना।

मशनायाद्यसंस्पृष्टं परमात्मानमविज्ञाय दु:खस्याध्यात्मिकस्याधिभौतिकस्याधिदैविकस्यान्तो विनाशो भविष्यति। आत्मा ज्ञाननिमित्तत्वात्संसारस्य।

यावत्परमात्मानमात्मत्वेन न जानाति तावत्तापत्रयाभिभूतो मकरादिभिरिव रागादिभिरितस्तत: कृष्यमाण:प्रेततिर्यङ्मनुष्यादियोनिष्वज एव जीवभावमापन्नो मोमुह्यमान: संसरति। यदा पुनरपूर्वमनपरं नेति नेतीत्यादिलक्षणमशनायाद्यसंस्पृष्टमनुदितानस्तमितज्ञानात्मनावस्थितं पूर्णानन्दं परमात्मानमात्मत्वेन साक्षाज्जानाति तदा निरस्ताज्ञानतत्कार्य: पूर्णानन्दो भवतीत्यर्थ:। उक्तं च—

''अज्ञानेनावृतं ज्ञानं
तेन मुह्यन्ति जन्तव:॥
ज्ञानेन तु तदज्ञानं
येषां नाशितमात्मन:।

रहित ज्ञानस्वरूपसे स्थित क्षुधादिसे असंस्पृष्ट परमात्माको बिना जाने भी आध्यात्मिक, आधिभौतिक एवं आधिदैविक दु:खका अन्त—विनाश हो जायगा; क्योंकि आत्माके अज्ञानसे ही संसारकी स्थिति है।

तात्पर्य यह है कि जबतक पुरुष परमात्माको आत्मस्वरूपसे नहीं जानता तबतक वह अजन्मा होनेपर भी तापत्रयसे अभिभूत हो मकरादिके समान रागादिद्वारा इधर-उधर खींचा जाता हुआ प्रेत, तिर्यक् एवं मनुष्यादि योनियोंमें जीवभावको प्राप्त हो अत्यन्त मोहवश संसारमें भटकता रहता है। किन्तु जिस समय वह कारण-कार्यभावसे रहित, नेति नेति आदि वाक्यद्वारा लक्षित, क्षुधादिसे असंस्पृष्ट, उदय-अस्तसे रहित ज्ञानस्वरूपसे स्थित पूर्णानन्दमय परमात्माको साक्षात् आत्मस्वरूपसे जानता है उस समय अज्ञान और उसके कार्यसे छूटकर पूर्णानन्दमय हो जाता है। कहा भी है—

''ज्ञान अज्ञानसे ढका हुआ है, इसीसे जीव मोहमें पड़ते हैं। जिन्होंने ज्ञानके द्वारा अपने अज्ञानको नष्ट कर दिया है उनके प्रति वह

तेषामादित्यवज्ज्ञानं
प्रकाशयति तत्परम्॥
तद्बुद्धयस्तदात्मान-
स्तन्निष्ठास्तत्परायणाः ।
गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं
ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः ॥''
(गीता ५। १५—१७)
॥ २० ॥

ज्ञान [समस्त रूपमात्रको प्रकाशित करनेवाले] सूर्यके समान उस ज्ञेय परमार्थतत्त्वको प्रकाशित कर देता है। उस परमज्ञानमें ही जिनकी बुद्धि लगी हुई है, वह ज्ञानस्वरूप परब्रह्म ही जिनका आत्मा है उस ब्रह्ममें जिनकी दृढ़ निष्ठा है और जो उसीके परायण [अर्थात् आत्मरति] हैं वे ज्ञानद्वारा समस्त दोषोंसे मुक्त हो अपुनरावृत्तिको प्राप्त हो जाते हैं''॥ २० ॥

श्वेताश्वतर-विद्याका सम्प्रदाय तथा इसके अधिकारी

सम्प्रदायपरम्परया ब्रह्मविद्याया मोक्षप्रदत्वं प्रदर्शयितुं सम्प्रदायं विद्याधिकारिणं च दर्शयति—

सम्प्रदायपरम्पराके द्वारा ब्रह्मविद्याका मोक्षप्रदत्व प्रदर्शित करनेके लिये श्रुति इसके सम्प्रदाय और इस विद्याके अधिकारीको प्रदर्शित करती है—

तपःप्रभावाद्देवप्रसादाच्च ब्रह्म
ह श्वेताश्वतरोऽथ विद्वान्।
अत्याश्रमिभ्यः परमं पवित्रं
प्रोवाच सम्यगृषिसंघजुष्टम्॥ २१ ॥

श्वेताश्वतर ऋषिने तपोबल और परमात्माकी प्रसन्नतासे उस प्रसिद्ध ब्रह्मको जाना और ऋषिसमुदायसे सेवित इस परम पवित्र ब्रह्मतत्त्वका सम्यक् प्रकारसे परमहंस संन्यासियोंको उपदेश किया॥ २१ ॥

तप:प्रभावादिति। तपस: कृच्छ्रचान्द्रायणादिलक्षणस्य, तत्र तप:शब्दस्य रूढत्वात्। नित्यादीनां विधिवदनुष्ठितानां कर्मणामुपलक्षणमिदम्; "मनसश्चेन्द्रियाणां च ह्यैकाग्र्यं परमं तप:" इति स्मरणात्। तस्य च सर्वस्य तपसस्तस्मिञ्श्वेताश्वतरे नियमेन सत्त्वात्तत्प्रभावात्तत्सामर्थ्याद्देवप्रसादाच्च कैवल्यमुद्दिश्य तदधिकारसिद्धये बहुजन्मसु सम्यगाराधितपरमेश्वरस्य प्रसादाच्च ब्रह्मापरिच्छिन्नमहत्त्वम्। ह इति प्रसिद्धिद्योतनार्थ:। श्वेताश्वतरो नाम ऋषिर्विद्वान्यथोक्तं ब्रह्म परम्पराप्राप्तं गुरुमुखाच्छ्रुत्वा मनननिदिध्यासनादरनैरन्तर्यसत्कारादिभिर्ब्रह्माहमस्मीत्यपरोक्षीकृताखण्डसाक्षात्कारवान्।

'तप: प्रभावात्' इत्यादि। 'तपस:' अर्थात् कृच्छ्रचान्द्रायणादिरूप तपके [प्रभावसे], क्योंकि उसीमें 'तप' शब्द रूढ है। यह विधिवत् अनुष्ठान किये हुए नित्यादि कर्मोंका उपलक्षण है, क्योंकि "मन और इन्द्रियोंकी एकाग्रता ही परम तप है" ऐसा स्मृतिवाक्य है। वह सम्पूर्ण तप श्वेताश्वतर ऋषिमें नियमसे होनेके कारण उसके प्रभाव यानी सामर्थ्यसे तथा भगवान्‌की कृपासे—कैवल्यपदके उद्देश्यसे उसका अधिकार प्राप्त करनेके लिये अनेकों जन्मपर्यन्त सम्यक् प्रकारसे आराधना किये हुए परमेश्वरकी प्रसन्नतासे जिसकी महिमाकी कोई सीमा नहीं है, उस ब्रह्मको—यहाँ 'ह' शब्द प्रसिद्धिका द्योतक है—श्वेताश्वतर नामक ऋषिने जाना अर्थात् यथावत्-रूपसे वर्णन किये हुए परम्परागत ब्रह्मतत्त्वको गुरुदेवके मुखसे श्रवण कर मनन, निदिध्यासन, आदर (श्रद्धा), निरन्तर अभ्यास एवं सत्कारादिके द्वारा 'मैं ब्रह्म हूँ' इस प्रकार अपरोक्ष किया अर्थात् अखण्डवृत्तिसे उसका साक्षात्कार किया।

अथ स्वानुभवदार्ढ्यानन्तरमत्याश्रमिभ्यः। "अतिः पूजायाम्" इति स्मरणादत्यन्तं पूज्यतमाश्रमिभ्यः साधनचतुष्टयसम्पत्तिमहिम्ना स्वेषु देहादिष्वपि जीवनभोगादिष्वनास्थावद्भ्यः। अत एव वैराग्यपुष्कलवद्भ्यः। तदुक्तम्—

"वैराग्यं पुष्कलं न स्या-
न्निष्फलं ब्रह्मदर्शनम्।
तस्माद्रक्षेत विरतिं
बुधो यत्नेन सर्वदा॥"

इति। स्मृत्यन्तरे च—

"यदा मनसि वैराग्यं
जायते सर्ववस्तुषु।
तदैव संन्यसेद्विद्वा-
नन्यथा पतितो भवेत्॥"

इति। परमहंससंन्यासिनस्त एवात्याश्रमिणः। तथा च श्रूयते—"न्यास इति ब्रह्मा ब्रह्मा हि परः परो हि ब्रह्मा। तानि वा एतान्यवराणि तपाꣳसि न्यास एवात्यरेचयत्" (म० ना० ७८) इति।

"चतुर्विधा भिक्षवश्च
बहूदककुटीचकौ ।

फिर अपना अनुभव दृढ़ करनेके पश्चात् उसे अत्याश्रमियोंको—"अतिशब्द पूजार्थक है" ऐसी स्मृति होनेके कारण अत्यन्त पूजनीय आश्रमवालोंको अर्थात् साधनचतुष्टयकी पूर्णताके प्रभावसे जिनकी अपने शरीरादि तथा जीवन और भोगादिमें भी आस्था नहीं थी उनको, अतः पूर्ण वैराग्यवानोंको [इसका उपदेश किया]। ऐसा ही कहा भी है—"यदि पूर्ण वैराग्य न हो तो ब्रह्मज्ञान निष्फल है, अतः बुद्धिमान् पुरुषको सर्वदा प्रयत्नपूर्वक वैराग्यकी रक्षा करनी चाहिये।" तथा दूसरी स्मृतिमें कहा है—"जिस समय मनमें समस्त वस्तुओंके प्रति वैराग्य उत्पन्न हो जाय उसी समय विद्वान्को संन्यास ग्रहण करना चाहिये, नहीं तो उसका पतन हो जायगा।" इस प्रकार जो परमहंस संन्यासी हैं वे ही अत्याश्रमी हैं। ऐसा ही श्रुति भी कहती है—"न्यास ही ब्रह्मा है, ब्रह्मा ही पर (परब्रह्म) है पर ही ब्रह्मा है। ये सब तप निकृष्ट हैं, संन्यास ही सबसे बड़ा है" इत्यादि; तथा "बहूदक, कूटीचक, हंस और परमहंस—ये चार प्रकारके भिक्षु हैं, इनमें जो-जो

हंसः परमहंसश्च
यो यः पश्चात्स उत्तमः॥''
इति स्मरणाच्च। तेभ्यो-ऽत्याश्रमिभ्यः परमं प्रकृतं ब्रह्म तदेव परममुत्कृष्टतमं निरस्तसमस्ताविद्या-तत्कार्यनिरतिशयसुखैकरसं पवित्रं शुद्धं प्रकृतिप्राकृतादि-मलविनिर्मुक्तम्। ऋषिसंघजुष्टं वामदेव-सनकादीनां संघैः समूहैर्जुष्टं सेवितमात्मत्वेन सम्यक्परिभावित-प्रियतमानन्दत्वेनाश्रितम्; ''आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति'' (बृह० उ० ४। ५। ६) इति श्रुतेः। सम्यगात्मतयापरोक्षीकृतं यथा भवति तथा। सम्यगित्यस्य काकाक्षिन्यायेनोभयत्रानुषङ्गः कर्तव्यः। प्रोवाचोक्तवान्॥ २१॥

पीछेवाला है वह-वह उत्तरोत्तर उत्तम है, ऐसी स्मृति भी है। उन अत्याश्रमियोंको उस प्रकृत परब्रह्मका अर्थात् उस उत्कृष्टतम—सम्पूर्ण अविद्या और उसके कार्यसे रहित निरतिशय-सुखैकरसस्वरूप पवित्र—शुद्ध यानी प्रकृति और प्रकृतिके कार्य आदि मलसे रहित ब्रह्मका, जो ऋषिसंघजुष्ट यानी वामदेव एवं सनकादि ऋषियोंके समूहसे जुष्ट—सेवित अर्थात् आत्मभावसे सम्यक् प्रकारसे भावना किया हुआ यानी प्रियतम आनन्दरूपसे आश्रित है, क्योंकि श्रुति भी कहती है ''आत्माके लिये ही सब कुछ प्रिय होता है,'' [अतः ऐसे ब्रह्मका] जिस प्रकार वह आत्मस्वरूपसे पूर्णतया प्रत्यक्ष हो सके उस प्रकार उपदेश किया। श्रुतिके 'सम्यक्' पदका काकाक्षिन्यायसे 'प्रोवाच' और 'जुष्टम्' दोनों पदोंके साथ सम्बन्ध समझना चाहिये॥ २१॥

अनधिकारीके प्रति विद्योपदेशका निषेध

यथोक्तशिष्यपरीक्षणपूर्वकं विद्या वक्तव्या तद्विहाय तदुक्तौ

इस विद्याका उपर्युक्त प्रकारके शिष्यकी परीक्षा करके उपदेश करना चाहिये। उसे छोड़कर इसका

दोषं विद्याया वैदिकत्वं गुप्तत्वं सम्प्रदायपरम्परया प्रतिपादितत्वं चाह—

उपदेश करनेमें दोष, विद्याका वैदिकत्व, गुह्यत्व और सम्प्रदायपरम्पराद्वारा प्रतिपादित होना श्रुति बतलाती है—

वेदान्ते परमं गुह्यं पुराकल्पे प्रचोदितम्।
नाप्रशान्ताय दातव्यं नापुत्रायाशिष्याय वा पुनः॥ २२॥

उपनिषदोंमें परम गुह्य इस विद्याका पूर्वकल्पमें उपदेश किया गया था। जिसका चित्त अत्यन्त शान्त (रागादिमलरहित) न हो उस पुरुषको तथा जो पुत्र या शिष्य न हो उसको इसे नहीं देना चाहिये॥ २२॥

वेदान्त इति। वेदान्त इति जात्येकवचनम्। सकलासूपनिषत्स्विति यावत्। परमं परमपुरुषार्थस्वरूपं गुह्यं गोप्यानामपि गोप्यतमं पुराकल्पे प्रचोदितं पूर्वकल्पे चोदितमुपदिष्टमिति सम्प्रदायप्रदर्शनं कृतमित्येतत्। प्रशान्ताय पुत्राय प्रकर्षेण शान्तं सकलरागादिमलरहितं चित्तं यस्य तस्मै पुत्राय तादृशशिष्याय वा दातव्यं वक्तव्यमिति यावत्। तद्विपरीतायापुत्रायाशिष्याय वा स्नेहादिना ब्रह्मविद्या न वक्तव्या।

'वेदान्ते' इत्यादि। 'वेदान्ते' इसमें जातिमें एकवचन है, अर्थात् सभी उपनिषदोंमें, परम—परमपुरुषार्थरूप, गुह्य—गोपनीयोंमें भी सबसे अधिक गोप्य [यह विद्या] पुराकल्पे—पूर्वकल्पमें प्रचोदित हुई—उपदेश की गयी थी। इस प्रकारकी इसका सम्प्रदायप्रदर्शन किया गया। प्रशान्त पुत्रको अर्थात् जिसका चित्त प्रकर्षसे—विशेषरूपसे शान्त यानी रागादि सम्पूर्ण मलोंसे रहित हो, उस पुत्रको या ऐसे ही गुणोंवाले शिष्यको इसे देना यानी उपदेश करना चाहिये। इससे विपरीत स्वभाववालेको तथा जो पुत्र या शिष्य न हो उसे केवल स्नेहादिके कारण ब्रह्मविद्याका उपदेश नहीं करना

अन्यथा प्रत्यवायापत्तिरिति पुनः-शब्दार्थः।

चाहिये।* नहीं तो प्रत्यवाय (पाप) लगता है—यह 'पुनः' शब्दका तात्पर्य है।

अत एव ब्रह्मविद्याविवक्षुणा गुरुणा चिरकालं परीक्ष्य शिष्यगुणाञ्ज्ञात्वा ब्रह्मविद्या वक्तव्येति भावः। तथा च श्रुतिः—"भूय एव तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया संवत्सरं संवत्स्यथ" (प्र० उ० १। २) इति। श्रुत्यन्तरे च—"एकशतं ह वै वर्षाणि प्रजापतौ मघवान्ब्रह्मचर्यमुवास" (छा० उ० ८। ११। ३) इति च। एतच्च बहुधा प्रपञ्चितमुपदेशसाहस्रिकायामित्यत्र संकोचः कृतः॥ २२॥

इसलिये जो गुरु ब्रह्मविद्याका उपदेश करना चाहे उसे बहुत समयतक परीक्षा करके शिष्यके गुणोंको जानकर इसका उपदेश करना चाहिये—ऐसा इसका भाव है। ऐसी ही यह श्रुति भी है—"फिर एक सालतक तपस्या, ब्रह्मचर्य और श्रद्धापूर्वक तुम यहाँ वास करो।" तथा एक अन्य श्रुतिमें कहा—"इन्द्रने प्रजापतिके यहाँ एक सौ एक वर्षतक ब्रह्मचर्यव्रतका पालन करते हुए निवास किया" इत्यादि। इस प्रसंगका उपदेशसाहस्रीमें अनेक प्रकारसे विस्तृत वर्णन किया है, इसलिये यहाँ संक्षेपमें कह दिया है॥ २२॥



परमेश्वर और गुरुमें श्रद्धा-भक्ति रखनेवाले शिष्यके प्रति किये गये उपदेशकी सफलता

अत्रापि देवतागुरुभक्तिमतामेव

अब श्रुति यह दिखलाती है कि यहाँ भी देवता और गुरुकी भक्ति-

* शिष्य और पुत्रके प्रति ही ब्रह्मविद्याका उपदेश करनेकी विधिका रहस्य यही जान पड़ता है कि जिसे उपदेश किया जाय उसकी उपदेशकके प्रति पूर्ण श्रद्धा होनी चाहिये और ऐसी श्रद्धा केवल पुत्र या शिष्यकी ही हो सकती है। इसलिये वे ही इसके उपदेशके अधिकारी हैं।

गुरुणा प्रकाशिता विद्यानुभवाय भवतीति प्रदर्शयति—

युक्त पुरुषोंके प्रति प्रकाशित की हुई विद्या ही अनुभवकी प्राप्ति करानेवाली होती है—

यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः।
प्रकाशन्ते महात्मनः॥ २३॥

जिसकी परमेश्वरमें अत्यन्त भक्ति है और जैसी परमेश्वरमें है वैसी ही गुरुमें भी है। उस महात्माके प्रति कहनेपर ही इन तत्त्वोंका प्रकाश होता है, उस महात्माके प्रति ही ये प्रकाशित होते हैं॥ २३॥

यस्येति। यस्य पुरुषस्याधिकारिणो देवे इयता प्रबन्धेन दर्शिताखण्डैकरसे सच्चिदानन्दपरज्योतिःस्वरूपिणि परमेश्वरे परोत्कृष्टा निरुपचरिता भक्तिः। एतदुपलक्षणम्। अचाञ्चल्यं श्रद्धा चोभे यथा तथा ब्रह्मविद्योपदेष्टरि गुरावपि तदुभयं यस्य वर्तते तस्य तप्तशिरसो जलराश्यन्वेषणं विहाय यथा साधनान्तरं नास्ति यथा च बुभुक्षितस्य भोजनादन्यत्र साधनान्तरं न,

'यस्य' इत्यादि। जिस अधिकारी पुरुषकी देवमें—यहाँतकके ग्रन्थद्वारा वर्णन किये हुए अखण्डैकरस सच्चिदानन्द परमज्योतिःस्वरूप परमेश्वरमें परा—उत्कृष्टा यानी अकृत्रिमा भक्ति है, यह [अचञ्चलता और श्रद्धाका भी] उपलक्षण है। तात्पर्य यह है कि जिसकी भगवान्‌के प्रति जैसी निश्चलता और श्रद्धा है वैसी ही ये दोनों ब्रह्मवेत्ता गुरुके प्रति भी हैं उसके लिये, जैसे तपे हुए मस्तकवाले पुरुषके लिये जलाशयको खोजनेके सिवा और कोई उपाय नहीं है तथा क्षुधातुर पुरुषको भोजनके सिवा और कोई उसकी शान्तिका साधन नहीं है,

एवं गुरुकृपां विहाय ब्रह्मविद्या दुर्लभेति त्वरान्वितस्य मुख्याधिकारिणो महात्मन उत्तमस्यैते कथिता अस्यां श्वेताश्वतरोपनिषदि श्वेताश्वतरेण महात्मना कविनोपदिष्टा अर्थाः प्रकाशन्ते स्वानुभवाय भवन्ति। द्विर्वचनं मुख्यशिष्यतत्साधनादिदुर्लभत्व-प्रदर्शनार्थमध्यायपरिसमाप्त्यर्थ-मादरार्थञ्च॥ २३॥

उसी प्रकार गुरुकृपाके बिना ब्रह्म-विद्याका प्राप्त होना अत्यन्त कठिन है, यह सोचकर जिसे ब्रह्मज्ञानप्राप्तिके लिये अत्यन्त उतावली लगी हुई है उस मुख्याधिकारी उत्तम महात्माको ही ये कथित—इस श्वेताश्वतरोपनिषद्में महात्मा श्वेताश्वतरद्वारा उपदेश किये हुए तत्त्व प्रकाशित अर्थात् स्वानुभवके विषय होते हैं। 'प्रकाशन्ते महात्मनः' इन पदोंकी द्विरुक्ति मुख्य शिष्य और उसके साधनोंकी दुर्लभता प्रदर्शित करनेके लिये, अध्यायकी समाप्तिके लिये तथा आदरके लिये है॥ २३॥

इति श्रीमद्गोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यपरमहंसपरिव्राजकाचार्य-
श्रीमच्छङ्करभगवत्प्रणीते श्वेताश्वतरोपनिषद्भाष्ये
षष्ठोऽध्यायः॥ ६॥

॥ समाप्तमिदं श्वेताश्वतरोपनिषद्भाष्यम्॥

॥ ॐ तत्सत्॥

शान्तिपाठः

ॐ सह नाववतु। सह नौ भुनक्तु।
सह वीर्यं करवावहै। तेजस्वि
नावधीतमस्तु। मा विद्विषावहै।

ॐ शान्तिः! शान्तिः!! शान्तिः!!!

